वास्तविक गुरु-दक्षिणा के प्रेरक प्रसंग

(स्वामी डॉ० विश्वामित्र जी महाराज)

'कल्याण' के सितम्बर 2011 के अङ्क से

जगद्गुरु तो सगुण-निराकार जगदीश्वर ही हैं। अनेक सद्गुरुओं के रूप में जन्मे संत-महापुरुष उन्हीं के विभिन्न स्वरूप हैं। परमगुरु परमात्मा उनके माध्यम से शिष्यों को नाम-दान दिलवाते हैं, गुरु मन्त्र की दीक्षा दिलवाते हैं, उन्हें अपने से बड़ा स्थान दिलवाते हैं। उन्हीं के मुखारविन्द से यह उद्घोष है- 'मोतें संत अधिक करि लेखा' (रा०च०मा० 3।35।2) अर्थात् सन्तों को मुझ से भी अधिक करके मानना। क्यों? नाम-दान शिष्यों को स्वयं न देकर, शरीरधारी गुरुओं से दिलवाते हैं और शिष्यगण दीक्षा लेकर गुरुओं को उपहार देते हैं, जिसे गुरु-दक्षिणा कहा जाता है। यह सामग्री प्रायः धन, वस्त्र, खाद्य-पदार्थों अथवा अन्य दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के रूप में होती है। सच्चे सद्गुरु-सन्त एवं परमगुरु परमात्मा को शिष्यों से कैसी दक्षिणा अपेक्षित है, कुछ एक दृष्टान्तों के माध्यम से उसी का उल्लेख प्रस्तुत है -

(1)

विद्याध्ययन समाप्त होने पर श्री कृष्ण ने गुरु सान्दीपनि के चरणों में प्रार्थना की-'गुरुदेव! आज्ञा करें, श्री चरणों में क्या गुरु-दक्षिणा दूँ? क्या सेवा करूँ?' गुरुदेव बोले-'मुझे तो कुछ नहीं चाहिये, कोई आवश्यकता नहीं।' 'गुरुदेव! आपको कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन मुझे तो गुरु-दक्षिणा दे कर सेवा करने की आवश्यकता है।' 'अच्छा ! तो अपनी गुरु माँ से पूछ, उसे क्या चाहिये?' श्री कृष्ण ने गुरु पत्नी से पूछा - 'आपकी क्या सेवा करूँ?' 'कृष्ण! तू हमारा सब से समर्थ विद्यार्थी है। मेरा बेटा यम लोक चला गया है, मुझे वह ला दे।' श्री कृष्ण ने यम पुरी से गुरु-पुत्र को लाकर माँ की गोद में रख दिया। कितना महत्त्व है गुरु-दक्षिणा का, गुरु-शिष्य सम्बन्ध का। इस पवित्र सम्बन्ध की पूर्णता के लिये शिष्य को नाम-दान, गुरु मन्त्र या विद्या-प्राप्ति के बाद गुरु को किसी-न-किसी रूप में गुरु-दक्षिणा का देना अनिवार्य है।

(2)

महात्मा शुकदेव गर्भ में ही आत्मज्ञानी हो गये थे। वे वहाँ से बाहर निकलने से इन्कार करते हुए कहने लगे-'मैं माया से अलिप्त रहना चाहता हूँ।' भगवान् श्री ने माया की गति को पाँच पल के लिये रोका, तब शुक गर्भ से बाहर निकले। वैराग्य इतना प्रबल कि जन्मते ही जंगल में चले गये। पिता महर्षि व्यास देव जी ने अनासक्त पुत्र को राजा जनक के पास भेजना चाहा, किंतु शुकदेव जी के मन में संशय जन्य कई प्रश्न थे, जैसे-वे राजा मैं ऋषि, वे गृहस्थ मैं त्यागी, वे क्षत्रिय मैं ब्राह्मण, वे भोगी मैं योगी-संन्यासी। मैं ऐसे राजा जनक को गुरु कैसे बनाऊँ? अनेक बार गये, परंतु वापस लौट आते। सन्त-महात्मा की निन्दा से, उनमें दोष-दर्शन से अपने पुण्यों की कमाई लुटती है। देवर्षि नारद इन्हें शिक्षा देने हेतु एक वृद्ध का रूप धारण करके, एक पानी के नाले में मिट्टी डाल रहे थे। बहते जल में मिट्टी ठहरे न। शुक ने उधर देखा पूछा-'क्या कर रहे हो?' वृद्ध ने उत्तर दिया- बाँध बना रहा हूँ।' 'मूर्ख कहीं का-क्या बाँध ऐसे मिट्टी फेंकने से ही निर्मित हो जाता है?' वृद्ध ने तत्काल मुँह घुमाकर कहा-'मूर्ख मैं नहीं, मूर्ख तो वह शुकदेव है, उसकी मूर्खता देखो, अभिमानवश उसने गुरुभाव का तिरस्कार कर अपनी ज्ञान राशि व्यर्थ ही खो दी।' शुक तो सुनते ही बेहोश हो गये, होश आया तो उठे और सीधे राजा जनक के पास पहुँचे।

कृपया पृष्ठ पलटिए

श्रद्धा सुभक्ति प्रेम से, आये जनक समीप।
जो थे आत्म जगत में, धर्म पोत के द्वीप।।

द्वारपाल द्वारा कहला भेजा-

राजन्! शुक आया यहाँ, लिए प्रेम की प्यास।
दर्शन दो करके दया, तारो बेड़ा पार।।
अवस्था यौवन जानकर, दी आज्ञा मिथिलेश।
ड्योढ़ी पर ही ठहरिए, तीन रात तक शेष।।
सुन आज्ञा शुक देव ने, किया पालन तत्काल।
खड़ा रहा त्रिदिवस तक, पड़ी न त्यौड़ी भाल।। (भक्ति प्रकाश)

इसी प्रकार अन्त:पुर में तीन दिवस-तीन रात तक और ठहरने को कहला भेजा। वहाँ भी शीतकाल में उपवास रखे हुए शुक देव जी रुके रहे। वहाँ नारियों का स्वच्छन्द आना-जाना भी बना रहा, पर शुकदेव जी तो भक्ति-लगन में मग्न, मस्त रहे। यह देख कर नृप ने पधारने का कारण पूछा?

हाथ जोड़कर जनक को, बोले शुक मुनिराज।
आत्मज्ञान सुभक्ति पथ, मुझे दीजिए आज।। (भक्ति प्रकाश)

सद्‌गुरु महाराज जनक ने शुकदेव को अधिकारी जानकर, पुण्य-पात्र मान कर हरि नाम की दीक्षा दी। शुकदेव जी ने कुछ दिन श्री गुरु चरणों में बैठकर साधना की, सब संशय दूर हुए। शिष्य ने गुरुदेव को गुरु-दक्षिणा देनी चाही। 'वत्स! मुझे कुछ नहीं चाहिये।' आग्रह करने पर तथा गुरु दक्षिणा की अनिवार्यता स्पष्ट करने के लिये राजा जनक ने कहा-'तुम्हारी दृष्टि में जो निरुपयोगी हो, वह मुझे दे दो।' शिष्य ने सोच-विचार कर मिट्टी उठायी। मिट्टी तत्काल बोली-'मैं नदियों, सागरों, पर्वतों, महलों-मकानों को देह-दान देती हूँ। प्रत्येक प्राणी को अन्न, फूल, फल, ईंधन देती हूँ। मैं व्यर्थ कैसे?' उसे फेंक पत्थर उठाया, वह बोला-'मुझ से मकान, महल, किलों का निर्माण होता है, मैं व्यर्थ नहीं।' शुकदेव जी का माथा ठनका-देहाभिमान ही दोषी है, निरुपयोगी है, इसी से संसार में बन्धन है। अत: प्रत्येक शिष्य को अपना कर्तृत्व अर्थात् कर्तापन का अभिमान, अपना अहं ही श्री गुरु चरणों में गुरु-दक्षिणा के रूप में चढ़ाना चाहिये। गुरुदेव सत्-शिष्य से माँगते भी यही हैं।

(3)

सन्त तुकाराम अपने शब्दों में अपने बारे में रहस्य पूर्ण बातें बतलाते हैं-'कथा वार्ता सुनते-सुनते मेरी प्रीति प्रभु से हो गयी। मैं विट्ठल भगवान् का उपासक बन गया, उनके नाम का सतत जप करने लगा। प्रभु को मुझ पर दया आयी, स्वप्न में सद्‌गुरु मिले। मैं गंगा-स्नान करके लौट रहा था, रास्ते में मिलन हुआ। कहा-'मैं भगवान् विट्ठलनाथ की प्रेरणा से आपको उपदेश देने आया हूँ।' मैंने कहा-'मैंने तो प्रभु की कोई सेवा नहीं की, कितने दयालु हैं वे।' राम-कृष्ण-हरि मन्त्र दिया और गुरु-दक्षिणा में पाव भर तूप (घी) माँगा। तुकाराम स्पष्ट करते हैं-तूप का वास्तविक अर्थ है-मैं-मेरापन अर्थात् अहंता-ममता, घी नहीं। समझाया-'तू न पुरुष है न स्त्री, तू तो आत्मा है, उस अंशी अविनाशी का अंश। देह के सारे भाव मुझे अर्पण कर दे अर्थात् अपनी अहंता (अपना अहं) मुझे दे दे।'

गुरु नानक देव भ्रमण करते-करते, एक नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा दर्शनार्थ पधारे, अति प्रभावित हुए। अत: कुछ भेंट करने की उत्कट इच्छा व्यक्त करते हुए कहा-'बाबा! मैं कुछ देना चाहता हूँ।' राजन्! जो तेरा अपना हो सो दे दो। सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात सब आगे रख दिये, 'कृपया स्वीकार करें।' 'ये सब तो तेरे नहीं, तेरे से पूर्व पिता के, उनसे पहले दादा के और तेरे बाद तेरे पुत्र के हो जायँगे। तेरे मरणोपरान्त यहीं छूट जायेंगें तो तेरे कैसे हुए? तेरा शरीर भी यहीं छूट जायेगा। यह भी तेरा नहीं। मन भी तेरा नहीं, क्यों? तू तो यहाँ बैठा है और मन कहीं और घूम रहा है। अपनी वस्तु पर तो नियन्त्रण होता है, मन तो दिन-रात भटकता है। तू तो भजन-पाठ के लिये बैठा है, अर्थात् शरीर तो सत्संगति में बैठा, पर मन घर-परिवार के साथ या कहीं और। राजन्! बुद्धि भी तेरी नहीं, तेरी हो तो सदा सही निर्णय लेती। उसमें तो अज्ञान भरा पड़ा है, तभी तो सत् को असत् और दु:खदायी वस्तु को सुखदायी बताती है। यही माया है।' 'बाबा! फिर आप ही बताओ-क्या दूँ?' राजन्! जब राजा जनक के सामने भी ऐसी ही समस्या थी-महर्षि याज्ञवल्क्य से उपदेश की प्रार्थना की थी, जिससे मन-बुद्धि वश में रहें-

हाथ जोड़ विनती की भारी, ज्ञान दान दो हूँ अधिकारी।
ऋषि बोला राजन् बड़भागी, वैरागी तू ही है त्यागी।
ध्यान यजन अब आप रचाओ, दक्षिणा देकर चित्त टिकाओ।

राजा ने गुरु-दक्षिणा देते हुए प्रार्थना की-'महर्षि! सारा राज्य ले लें।' ये तो तेरा नहीं, पूर्वजों का था और तेरे पास भी नहीं रहेगा। ऐसी वस्तु दो जो तुम्हारी हो। 'कृपया धन ले लें।' 'वो भी तेरा नहीं राजन्! बहुधा भाग पिता का, शेष प्रजा का। तेरा कैसे? घोड़े, हाथी, गाड़ियाँ भी तेरे नहीं, आज तुम्हारे पास, कल दूसरे के पास। राजन्! तेरा तो तन भी नहीं, मुर्दा हो यहीं छूट जायेगा। मन की दक्षिणा दो। गुरु नानक इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'यह जो कह रहे हो-मैं धन देता हूँ, राज्य, तन, मन, बुद्धि देता हूँ, ये सब अपने पास रखें, मुझे 'मैं' दे दें। यदि 'मैं' दे दिया, तो सब कुछ मिल गया और यदि 'मैं' नहीं दिया, तो सब कुछ देने पर भी कुछ नहीं दिया।' महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनक से उनका मन माँगते हैं-

शुभ भक्ति में जनक जी बोले, मेरे मन मुनिवर का हो ले।
ऋषि बोला आशीष हो मेरा, स्वीकृत किया दान ही तेरा।।
आत्मज्ञान हुआ अब जानो, सफल यजन राजन् यह मानो
वह बोला सुन गुरुवर प्यारे, उड़े वासना पंख पसारे।।
न स्थिरता मन में है आई, चंचलता की है अधिकाई।
मुनि बोला-है दान अधूरा, इससे टिका न मन तव पूरा।।
दिया दान मन अब न डुलाओ, मेरा मन न काम में लाओ।
मन अपना मानो अब मेरा, राज काज करिए बहुतेरा।।
मौन मूर्ति स्थिर ही हो के, शांत हुआ संशय सब खो के।
निश्चल मन अडोल थी काया, मिटी सकल ही मन की माया।।

(भक्ति प्रकाश)

ऋषि ने आशीर्वाद देते हुए कहा-'हे राजन्! आपका मन प्रसाद रूप में लौटाता हूँ, इसे अपना न मान, मेरा मानते हुए राज्य भी करें और श्रीराम-भजन भी।' राजा जनक विदेह हो गये।

कृपया पृष्ठ पलटिए

(5)

तिब्बत की एक सच्ची घटना है, एक शिष्य गुरुदेव के पास पहुँचा, दीक्षा की याचना की। गुरु ने कहा-'यहाँ सैकड़ों शिष्य हैं, तुम्हारे लिये स्थान रिक्त नहीं।' 'गुरुदेव! कृपा करें, मैं कहीं भी इधर-उधर पड़ा रहूँगा।' 'अच्छा, तू सब के भोजन हेतु चावल कूटा कर।' शिष्य ने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर दिन-रात यही काम किया। न शिष्य कभी गुरु के पास गया और न ही गुरु कभी शिष्य के पास पधारे। अनेक वर्ष बीत गये, गुरुदेव के निर्वाण का समय आ गया। गुरुपद प्रदान करना चाहते थे, अत: शिष्यों से कहा-'जो वर्षों यहाँ शिक्षा ग्रहण की, उसका सार लिखकर दें।' लगभग सभी ने यही लिखा-'मन एक दर्पण है, गुरु उस पर जमी धूल को साफ कर देते हैं।' गुरु अप्रसन्न एवं असन्तुष्ट। अत: कहा-'उस चावल कूटने वाले से भी एक बार पूछ लो।' सब गये, पूछने पर उत्तर दिया-'बन्धुओ ! मैं अनपढ़, लिख नहीं सकता, परंतु आप सबने क्या लिखा?' जो अधिकांश ने लिखा था, बतला दिया। तब कहा-' भाइयो! जब गुरु मिल गये, तो मन अपने पास कहाँ रहा? गुरु तो मन के लुटेरे हैं, हम तो उनका मन प्रयोग करते हैं अर्थात् सब कुछ के लिये सद्गुरु जिम्मेदार।' सुनकर प्रथम तथा अन्तिम बार गुरु महाराज शिष्य के पास पधारे, गुरुपद प्रदान किया और स्वयं निर्वाण को प्राप्त हो गये।

उक्त वर्णित दृष्टान्तों से गुरु-दक्षिणा की अनिवार्यता, महत्ता और गुरुता सिद्ध हो जाती है। गुरु-दक्षिणा भेंट करके शास्त्रीय पद्धति के अनुसार गुरु-शिष्य सम्बन्ध सुपुष्ट हो जाता है। शिष्यों नें श्री गुरु चरणों में गुरु-दक्षिणा के रूप में देहाभिमान की भेंट या अहं की भेंट अथवा मन को सैद्धान्तिक रूप से समर्पित कर दिया, किंतु इन सब का क्रियात्मक रूप क्या होगा? इस विषय में कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं-

(1)

एक बार महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा-'भिक्षुओ ! आज से चार माह बाद मेरा परिनिर्वाण हो जायगा, तब यह शरीर आपके मध्य में नहीं रहेगा, अत: जो करने योग्य है, उसे शीघ्र करो, देरी के लिये अब समय नहीं।' सकल संघ महाविषाद में डूब गया। शिष्य रोते-धोते, छाती पीटते, बिलखते, गहरी सोच में डूब गये-अब क्या होगा? सभी चिन्ताग्रस्त थे कि व्यवस्था कैसे चलेगी? तिष्य नामक शिष्य खबर सुनने के बाद न रोया, न चिल्लाया, मौन हो गया। साथी सोचने लगे, इसे इतना गहरा सदमा (धक्का) कि इसने बोलना तक बन्द कर दिया। भय था कि कहीं पागल न हो जाय। तिष्य अपने सद्व्यवहार के कारण सर्वाधिक प्रिय था, चुप्पी की सूचना गुरुदेव के पास पहुँची कि तिष्य ने कछुए की भाँति अपने-आपको भीतर समेट लिया है। बुलाया शिष्य को, श्री चरणों में मस्तक नवाया! बुद्ध ने कहा-'वत्स ! ये भिक्षु तुम्हारी भाव-दशा, मन:स्थिति के बारे में जानना चाहते हैं।' तिष्य ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया-'प्रभु! आपके आदेश जो करने योग्य है, करो, देर मत करो, मैं उसी आदेश का यथा सम्भव पालन करने की कोशिश कर रहा हूँ। कृपा करें, मेरा संकल्प पूरा हो।' अश्रुपूरित आँखों से, तिष्य ने विनय पूर्वक निवेदन किया-'मेरे प्रभु! हे करुणावान् गुरुदेव! निर्वाण से पूर्व मेरी 'मैं' की मृत्यु हो जाय, इसके लिये बल भी दें तथा आशीर्वाद भी। अब न बोलूँगा, न हिलूँगा तथा न ही डोलूँगा। मुझे सारी शक्ति इसी पर लगानी है। हे दयालु! कृपा करो, ताकि यह चार माह, जीवन की क्रान्ति के लिये लगा दूँ, इस पार या उस पार हो जाऊँ।' शिष्य की बातें सुन, प्रसन्नचित्त गुरु ने कहा-'हे भिक्षुओ ! तिष्य की भाँति बनो। रोने-बिलखने से क्या होगा, पुष्प माला से पूजा मेरी पूजा नहीं, जो कोई ध्यान के फूल रोज़ चढ़ाता है, वही असली पूजा करता है। अपने जीवन को साधनामय बनाना, दिव्य बनाना ही मेरी वास्तविक पूजा है। जो तिष्य को हुआ, वही तुम अपने में होने दो।'

कृपया पृष्ठ पलटिए

गुरु की आज्ञा, उनके आदेशों, उनकी शिक्षाओं का, परम्पराओं का अक्षरशः पालन, पवित्र जीवन-यापन के लिये दृढ़ संकल्प होना, भगवन्नाम की कमाई अर्जित करना, सत्कर्मों की पूँजी अर्जित एवं संचित करना तथा सब प्राणियों में नारायण को देखना और गुरु सेवा की भाँति उनकी सेवा करना, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, स्वाध्याय करते रहना तथा गुरु के उपदेशों के प्रचार-प्रसार द्वारा उन्हें सत्संग के लिये प्रेरित करना और साधना के लिये प्रोत्साहित करना ही वास्तविक गुरु पूजा है। ऐसे पूजा रूपी सुमन समर्पित करते रहने के लिये अर्थात् उक्त वचनों के पालन के लिये वचनबद्ध रहना ही वास्तविक गुरु-दक्षिणा है।

(2)

गंगा तट पर एक ऋषि का आश्रम, जहाँ अनेक शिष्य आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते। शिक्षा पूरी होने पर अपने-अपने घर वापस चले जाते। जाते समय आचार्य से पूछते-'गुरुदेव! गुरु-दक्षिणा में क्या दें?' गुरु कहते-'तुमने जो पाया है, समाज में जाकर, उस पर अमल करना, विद्या को आचरण में लाना, अपने पैरों पर खड़े होओ, सच्ची कमाई करो और फिर एक साल बाद तुम्हारा जो दिल चाहे, वह दे जाना।' शिष्य आश्रम छोड़ अपने-अपने काम-काज से जो कमाई होती, उसमें से श्रद्धापूर्वक कुछ भाग निकाल कर गुरु महाराज को दे जाते। एक बार गुरुकुल में एक सीधा- सादा शिष्य आया, साधारण गृहस्थ था, दिन भर मेहनत करके अपने परिवार का पालन-पोषण करता। सीखने की तीव्र इच्छा थी, अपने सद्व्यवहार से सब का दिल जीत लिया। ऋषि उसे स्नेह पूर्वक पढ़ाते, जो सीखता, उस पर मन से अमल करता, जो काम दिया जाता, उसे अगले दिन पूरा करके लाता। जब शिक्षा पूरी हुई तो उसने भी पूछा-'गुरुदेव! दक्षिणा में क्या दूँ?' ऋषि ने उसे भी वही कहा जो वे अन्य शिष्यों से कहते थे। एक वर्ष बाद लौटा, चरण-वन्दना की और श्रद्धा से बोला-'गुरुदेव! गुरु-दक्षिणा देने आया हूँ।' उसे देख गुरु प्रसन्न हुए और पूछा-'बेटा! क्या लेकर आये हो? दस लोगों को खड़ा कर दिया, जो उसके गाँव के थे। कहा-'गुरु-दक्षिणा में इन्हें लाया हूँ।'

'किस लिये?' 'प्रभु जो शिक्षा आपने मुझे दी थी, उसे इन तक पहुँचाया, उतने से ही इनका जीवन सँवर-सुधर गया, अब आप इन्हें अपना शिष्य बना लें ताकि इतने लोग और सन्मार्ग पर चल सकें।' हर्षित ऋषि ने कहा-'तुमने मुझे सर्वश्रेष्ठ गुरु-दक्षिणा दी है। बेटा! तूने यहाँ से पाया भी सर्वश्रेष्ठ, बाँटा भी सर्वश्रेष्ठ और मुझे भेंट भी सर्वश्रेष्ठ ही किया।'

बहुधा गुरु चरणों में लोग अपनी-अपनी भौतिक समस्याओं के समाधान के लिये जाते हैं, सत्संग में पधारने का आशय भी लोगों का प्रायः यही होता है कि संत-दर्शन से कामनाएँ पूर्ण होंगी। नाम-दीक्षा भी इसी उम्मीद से लेते हैं कि हमारी भौतिक समस्याओं का समाधान होगा। कुछ समय नाम भी जपते हैं, तरह-तरह की पूजा भी करते हैं, एक से निराश हो दूसरे का वरण करते हैं। आज वृन्दावन, कल ऋषिकेश, परसों बाला जी भगवान् के चरणों में हाज़िरी भरते हैं। जीवन भटकन में ही व्यतीत हो जाता है। ऐसों के लिये ही भक्त कबीर साहब फरमाते हैं-

दुनिया देखो मस्त दीवानी, भक्ति भाव न बूझै जी।
कोई आवे तो बेटा मांगे, भेंट रुपया दीजै जी।।
कोई आवे तो दुःख का मारा, हम पर कृपा कीजै जी।
कोई रचावे ब्याह-सगाइयाँ, संत गोसाइयाँ रीझै जी।।
सच्चे को कोई ग्राहक नाहीं, झूठे जगत पसीजै जी।
कहे कबीर सुनो भई साधो, इन अंधों को क्या दीजै जी।।

कृपया पृष्ठ पलटिए

सच्चे सन्त संसारियों की ऐसी मनोदशा देख फरमाते हैं-'भाई ! हमारी हालत तो ऐसी है, जैसी अन्धे ग्राहकों के बीच दर्पण बेचने वाले दुकानदार की।' ऐसों को न आध्यात्मिक गुरु के महत्त्व का बोध है, न ही गुरु-दक्षिणा का। वे शिष्य तो गुरु एवं परमात्मा के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं, जैसे आपस में व्यापारी। संत भगवन्नाम जपने, भक्ति करने के लिये प्रेरणा देते हैं, मोक्ष-प्राप्ति के लिये साधना करो, ऐसा मार्ग दर्शाते हैं, परंतु कोई मानने या करने को तैयार नहीं। आशीर्वाद माँगते हैं, जप-ध्यान, सेवा-सुमिरन नहीं करते।

संतों का अनुभव यही दर्शाता है, शिष्य बनना अति दुष्कर है। कोई बिरला आध्यात्मिक जीवन में गुरु-स्थान को जानता है, कोई ही उसके सामर्थ्य को पहचानता है, किसी को ही बोध है-गुरु से क्या पाया जा सकता है, क्या माँगना है तथा क्या उनकी सेवा में अर्पित करना है? एक युवक जिज्ञासु घूमता-घूमता नेपाल में पर्वत की घाटी में पहुँचा, जहाँ एक वृद्ध संत शिला पर बैठे दिखे। ध्यानस्थ थे, प्रतीक्षा की, दण्डवत् प्रणाम किया, परस्पर परिचय हुआ। सूर्यास्त का समय था, युवक से संत ने कहा-'वत्स ! मेरे पाँव में इतना बल नहीं कि स्वयं पहाड़ पर चढ़ कर अपनी गुफा तक पहुँच सकूँ, मेरी सहायता करो, अपने कन्धों पर उठा कर पहुँचाने का कष्ट करो।' कठिन चढ़ाई, उठा लिया युवक ने, रात्रि 11 बजे पहुँचे। वृद्ध को उतार कर हाँफते हुए युवक ने सविनय पूछा-'महात्मन्! कोई और सेवा?' संत अपार हर्षित, महान् योगी थे, सिद्धियों के स्वामी थे, अपनी योग-शक्ति से अपार धनराशि प्रकट की और युवक से बोले-जितना उठाना चाहो, उठा लो।' युवक ने कहा-'प्रभो! यह सब तो मैं छोड़ कर आया हूँ, इससे क्या जीवन का रहस्य जान पाऊँगा? क्या मृत्यु जानी जा सकेगी? महात्मन्! यह सब तो नश्वर है, संतों से भी यदि नश्वर ही मिलेगा तो शाश्वत कहाँ से और किससे मिलेगा? युवक का उत्तर सुनकर संत प्रफुल्लित हो उठे।

'मैं देह हूँ', इस अहंभाव की मृत्यु ही वास्तविक मृत्यु है, यही है मौत का रहस्य। इसे चाहे श्री गुरु चरणों में गुरु दक्षिणा रूप में चढ़ा कर मार डालो अथवा अन्य साधनों से। अहं भाव की मृत्यु के बाद ही शिष्य सच्ची गुरु-सेवा योग्य बन सकेगा, अन्यथा संसार की सेवा न करके शिष्य अपने अहं की सेवा में ही जीवन बर्बाद कर देगा। स्वयं मिट जाने वाले गुरुमुख शिष्य, अपने गुरु को कभी मरने नहीं देते, उनके उपदेशों के अनुकरण से तथा उनके प्रचार-प्रसार के माध्यम से उन्हें सदा जीवित रखते हैं। ये शिष्य गुरु महाराज को आजीवन सच्ची गुरु-दक्षिणा देते रहते हैं तथा स्वयं भी अमर हो जाते हैं। तभी संतों-महात्माओं ने अनुभवी कथन द्वारा सत्य कहा-'जिन राम को अपनाया, अपना आप मिटाया, तिन राम को पाया।' जहाँ अपने-आप को मिटाओगे, वहाँ बनाने वाला ऐसा बना देगा कि सदा बने रहोगे अर्थात् कभी न मिटने वाले हो जायँगे। ऐसे सद्गुरु तथा शिष्य दोनों धन्य हैं।

— o —